International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

प्राचीन भारतीय समाज–संघठन –एक विवेचना

शोध पर्यवेक्षक
डॉ0 जगपाल मान
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश

शोध छात्रा
सविता
शोध छात्रा, **इतिहास विभाग**
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश

भारतीय जीवन के व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्त्व दिया गया था। इस आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्त्व देते हुए भी यह माना गया था कि इस आन्तरिक उन्नति के लिए एक उपयुक्त वाह्म वातावरण की आवश्यकता है। यह भी विचार था कि यदि समाज का ठीक प्राकर से संघटन किया गया तो उचित तथा आवश्यक वातावरण भी अधिक सरलता से उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने उपयुक्त वातावरण निर्माण करने वाली एक ऐसी समाज–रचना तैयार की जिसमें व्यक्ति को उन्नति भी हो सके तथा समाजिक सुव्यवस्था भी रहे। भारतीय समाजशास्त्रियों का यह मत था कि सद्गुण नहीं निर्माण हो जाते, उसके लिये तो व्यक्ति के जीवन में संस्कार डालने पड़ते है। हो सकता है कि कुछ लोगों का स्वतः विकास हो जाये परन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति के लिये स्वार्थपूर्ण, लालसापूर्ण अतः संघर्षपूर्ण और निम्न जीवन से ऊपर उठाने के लिये कोई–न–कोई व्यवस्था आवश्यक होगी ही। इसलिये सामाजिक–व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम–व्यवस्था का, क्योंकि यह व्यवस्था मनुष्य को उन्नत करने वाली है तथा उसे मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर करने वाली भी है, निर्माण किया गया। यह प्रस्तावना में बताया जा चुका है[1] कि यह व्यवस्था भारत की अपनी विशेषता है। सामाजिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो अन्य देशों में राज्य के द्वारासामाजिक जीवन में जो बन्धन लगाये गये होंगे अथवा जो नियम लागू किये गये होंगे उनके अतिरिक्त केवल कुछ

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

प्रथाओं और मान्यताओं के द्वारा ही समाज–जीवन का नियंत्रण होता है। प्रत्येक व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अर्थात् वहां समाज में इस प्रकार से कार्यों का विभाजन और उस विभाजन के अनुसार कार्य करने का आग्रह इस प्रकार नहीं है, जैसा भारत में। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के दैनिक जीवन में, प्रतिक्षण के व्यवहार में, उसके नियंत्रण के लिए वैसी नियमों की परम्परा भी नहीं है जैसी भारत में अर्थात् व्यक्ति के जीवन को विभिन्न सीढ़ियों में विभाजन कर, उसके जीवन की प्रत्येक सीढ़ी की व्यवस्था के लिए वैसे नियम भी नहीं है, जैसे भारत में। अन्य समाजों में व्यक्तिगत जीवन को नियमन करने के लिए कुछ नैतिक गुण मात्र ही है, अन्यथा वह स्वच्छन्द है। इस स्वतंत्रता को वहां एक गुण भी माना गया है; परन्तु भारत में इस प्रकार की स्वच्छंदता को उपयोगी नहीं माना गया। जब व्यक्ति स्वतंत्र है और यह उसी पर अवलंबित है कि वह चाहे ऊपर उठे अथवा नीचे गिरे (नैतिक दृष्टि से), तब सम्भावना इसी बात की है कि अधिकांश में व्यक्ति ऊपर उठने के स्थान पर नीचे ही गिरेगा क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुखोपभोग की है और व्यवस्था द्वारा स्वाभाविक निम्न प्रवृत्तियों का नियमन ओर संयम नही होता है। अतः भारतीय विचारकों ने यह माना कि व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ने के स्थान पर उसे इस प्रकार की व्यवस्था में रखा जायें कि उसकी प्रवृत्तियों का नियमन और संयमन होते होते वह अधिकाधिक श्रेष्ठ होता जाये। अतः भारत ने संसार के सामने निश्चित लक्ष्य को पहुंचाने वाली समाज रचना प्रस्तुत की है। यह भी बताया ही जा चुका है कि भारत की यह समाज–रचना राजनीतिक सत्ता से स्वतंत्र थी। राज्य–सत्ता इसी व्यवस्था का एक अंग अवश्य थी, यद्यपि उसका कार्य यह देखना था कि उस व्यवस्थित समाज–रचना में कहीं दोष न आये अथवा कोई बाधा न उत्पन्न हो, परन्तु भारतीय समाजशात्रियों का विचार था कि यदि एक बार राज्य–व्यवस्था न भी रहे तो भी समाज–जीवन यथासम्भव व्यवस्थित चलना ही चाहिए। राज्य के होने से सहायता अवश्य मिलेगी तथा समाज–जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को समाज की व्यवस्था जो एक निश्चित लक्ष्य के अन्दर कैसे भी परिवर्तन हों तथा कोई राज्य रहे अथवा न रहे परन्तु इस समाज–व्यवस्था का स्थायीरूप से चलते रहना आवश्यक माना गया[2]। यही कारण था कि भारत में कितने भी

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

परकीय राज्य आये परन्तु समाज–जीवन का ढांचा अविच्छिन्न रूप से चलता रहा, यद्यपि यह सत्य है कि समाज–जीवन की त्रुटियों को दूर करनेवाला सहानुभूतिपूर्ण राज्य न रहने के कारण समाज–व्यवस्था के दोष धीरे–धीरे बढ़ते रहे। इसी कारण यह कहा जाता है कि अन्य देशों के नष्ट होने पर भी भारत नष्ट नहीं हुआ और उसके अन्दर का धर्म पूर्ववत् जागृत रहा।

भारत में व्यक्ति और सामाजिक जीवन की व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया। इस वर्णाश्रम–व्यवस्था के कारणों की विस्तारपूर्वक मीमांसा करना यहां योग्य होगा। पिछले अध्याय में यह बताया गया है[3] कि मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए अर्थ और काम का धर्मानुसार उपभोग करने से एक ओर तो मानसिक संतुष्टि होगी, तथा, दूसरी और भोगलालसा भी अनियन्त्रित रूप से न बढ़ेगी। वर्णाश्रम–व्यवस्था इसीलिए है कि अर्थ और काम का धर्मपूर्ण उपभोग करते हुए व्यक्ति क्रमश उन्नति करता जाये। वर्ण–व्यवस्था के माध्यम से धर्म का अर्थ के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया गया है अर्थात् ऐसी व्यवस्था की गयी है कि समाज–सत्ता (अर्थ) का सब वर्ग नियन्त्रित और समूचित उपयोग करें। उसके लिए प्रत्येक वर्ण की अर्थात ज्ञानी, शिक्षक तथा समाज–नियन्ताओं (ब्राह्मणों), की, राज्यसत्ताधारियों (क्षत्रियों) की तथा धनिकवर्ग (वैश्यों, की मर्यादाएं स्थापित कर दी गयी है अर्थात् धर्म का काम के ऊपर नियंत्रण स्थापित किया गया है; आश्रम–व्यवस्था में सन्यासीही श्रेष्ठ धर्म (मोक्ष) का प्रतीक है और उसकी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने का अर्थ है अर्थ और काम के ऊपर धर्म की श्रेष्ठता प्रस्थापित करना। वर्ण–व्यवस्था से मनुष्य विभिन्न जन्मों में कामप्रधान शूद्र, अर्थप्रधान वैश्य, धर्म, अर्थ का मन्वय करने वाला क्षत्रिय तााि धर्मप्रधान ब्राह्मण, इन विभिन्न सीढ़ियों के माध्यम से बढ़ता जाता है; आश्रम–व्यवस्था सामूहिक पद्धति से व्यक्ति की उन्नति का ढंग है; आश्रम–व्यवस्था में एक जन्म के अन्दर व्यक्ति की उन्नति का ढंग है; आश्रम–व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति करता है[4]।

व्यक्तिगत उन्नति ही नहीं, समाजिक–व्यवस्था निर्माण करना भी वर्णाश्रम–व्यवस्था का उद्देश्य था। वर्णाश्रम–व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और अवस्था के अनुसार कार्य का

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

विभाजन कर दिया गया था ओर प्रत्येक को अपने–अपने कार्य में पूर्णता प्राप्त करने का पूरा अवसर था। इस प्रकार कार्य–विभाजन के द्वारा समाज में सुव्यवस्थितता, पारस्परिक पूरकता तथा पारस्परिक सहयोग का वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न था। श्रम–विभाजन का इतना पूर्ण, व्यवस्थित और आदर्शानुसार रूप अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। वर्ण–व्यवस्था में यह श्रम–विभाजन और भी पूर्णता को प्राप्त था क्योंकि वंशगत रूप से एक ही कार्य करने के कारण पारिवारिक परम्पराओं, पारिवारिक वातावरण और पारिवारिक स्वभाव तथा गुण के कारण अधिकाधिक योग्यता निर्माण होनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार इस श्रम–विभाजन और पारस्परिक पूरकता के द्वारा एक सहकारितापूर्ण समाज (Co-operative Commonwealth) का निर्माण किया गया था।[5]

वर्ण–व्यवस्था के सामाजिक लाभ अन्य भी बहुत–से थं वर्ण–व्यवस्था के द्वारा समाज में एक प्रकार का अधिकार–विभाजन और शक्ति–संतुलन किया गया था। जिसे ज्ञान का अधिकार दिया उसे राज्य का अधिकार अथवा सम्पत्ति का अधिकार नहीं दिया, अपितु उसे राज्य–व्यवस्था और धन–लालसा से दूर रखा। जिसे राज्य का अधिकार दिया उसे सम्पत्ति पर असीमित अधिकार नहीं दिया (राज्य द्वारा किस–किस साधन से और कितनी मात्रा में धन–प्राप्ति की जा सकती है यह निश्चित था) तााि ज्ञानियों पर भी नियन्त्रण करने का अधिकार उसे नहीं दिया गया। सम्पत्ति के अधिकारी को राज्य में अथवा धर्म में हस्तक्षेप करने को कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार अधिकार का विभाजन कर शक्ति–संतुलन निर्माण किया गया। एक ही वर्ग के पास विभिन्न प्रकार के अधिकार रहते तो समाज के ऊपर असीमित अत्याचार करने की उस वर्ग की शक्ति रहती। भारतीय समाज–रचना की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। अधिकार का विभाजन होने पर भी विभिन्न प्रकार के अधिकारों की उत्तरोत्तर वृद्धिगत श्रेणियां है। सबसे निम्न श्रेणी पर शरीर–प्रधान शुद्र है, उसके ऊपर सम्पत्ति का स्वामी वैश्य है, उसके भी ऊपर राज्य–सत्ता का अधिकारी क्षत्रिय है, तथा सबके ऊपर अधिकार रखने वाला ज्ञानवान् ब्राह्मण है। इसी प्रकार भारतीय व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

सामाजिक शक्तियों की श्रेणियां (गुरूता और लघुता) भी निर्धारित कर दी गयी। कार्य का और अधिकार का विभाजन भी योग्यता और पात्रता के अनुसार किया गया। धर्म पर अर्थात् समाज–जीवन पर नियन्त्रण का सबसे श्रेष्ठ अधिकार सबसे अधिक निःस्वार्थी, अल्पसंतोषी, अमहत्त्वाकांक्षी तथा धर्मवृत्तिपूर्ण वर्ग को दिया गया[6]। राज्य पर नियन्त्रण का अधिकार उन्हें दिया गया जो महत्वकांक्षी है परन्तु फिर भी जिनमें धार्मिकता है, शौर्य है, उत्साह है, तेज है तथा साथ–साथ अन्याय को दूर करने की तथा उसे न सहने की वृत्ति है; सम्पत्ति का उनका नियंत्रण रखा गया जिनका सामाजिक दृष्टि से अधि विकास तो नहीं हुआ परन्तु जिनको धन–प्राप्ति की लालसा है तथा उसकी पात्रता हैं। जो विचारशक्ति से विहीन, आत्मसंयम और आत्मानुशासन करने में असमर्थ है, अतः जो समाज का मार्गदर्शन करने तथा अधिक बुद्धिवादी कार्यों में असमर्थ हैं और प्रमुख रीति से शारीरिक कार्यों के ही योग्य हैं, उन्हें इन तीन वर्गों को इनके साधारण जीवन की चिन्ता से मुक्त कर, (जिससे यह अपना कार्य अधिक निश्चिन्ततापूर्वकख मनोयोगपूर्वक तथा व्यवस्थित रीति से कर सकें), इनकी सेवा करने का कार्य दिया गया। सामाजिक जीवन में कार्य का और अधिकार का विभाजन ठीक रहना समाज–जीवन की सुव्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक है। वर्तमान काल में अधिकार का समुचित विभाजन न होने के ही कारण कई बार दुर्गुणी व्यक्ति ऊंचे स्थानों पर पहुंच जाते है और समाज की अव्यवस्था का एक लाभ यह भी था कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वाभाविक रीति से ही व्यवसाय प्राप्त हे जाता था तथा प्रत्येक व्यवसाय के लिए चाहे वह कितना भी निम्न क्यों न हो, व्यक्ति भी गुणानुसार निश्चित कर दिये गये थे। इस प्रकार इस व्यवस्था के द्वारा जीवन की अनिश्चितताएं समाप्त कर दी गयीं। वर्ण–व्यवस्था के ही अन्तर्गत जाति–व्यवस्था का भी समावेश है। चारों वर्णों के अतिरिक्त पृथक वर्णों के स्त्री–पुरूष के संबन्धों से विभिन्न वर्णासंकर जातियां का भी निर्माण हुआ। इन सभी जातियों के पृथक–पृथक व्यवसाय निश्चित किये गये है। इस प्रकार जाति–व्यवस्था के माध्यम से व्यावसायिक संघटन निर्माण करने का प्रयत्न किया गया जो अपने व्यवसाय का तााि व्यवसाय के सदस्यों का हित–साधन कर सके,

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

परन्तु साथ–ही–साथ दूसरे व्यवसायों से विद्वेष न करें। जाति–व्यवस्थ का यह भी एक लाभ हुआ कि बाहर से आयी विभिन्न जातियों का समाज के अन्दर समावेश किया जा सका[7]।

'वर्ण' शब्द के विभिन्न अर्थ बताये गये है। डॉ. भगवानदास 'वर्ण' की व्याख्या करते हैं–''वृ, वरणे; वर्ण, वर्णने; वृ, आच्छादने। जीविकार्थ व्रितये इति वर्णः। वर्णायति वा पुरूष इति वर्णः।'' वस्त्रवद् आच्छादयति, श्वेतः, रक्तः, पीतः, कृष्णः इति वर्णः। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वह कहते हैं कि वर्ण का अर्थ है जो वरण के योग्य हो अर्थात जो विभिन्न कार्यों के लिये अपनी योग्यतानुसार चुना जा सके अथवा वह स्थान जिसके द्वारा व्यक्ति का वर्णन किया जा सकता है। डॉ. राधाकमल मुकर्जी भी इसी प्रकार अर्थ करते हुए वर्ण को 'वरणीयम्' (चुने जाने योग्य) का पर्यायवाची कहते हैं। 'वर्ण' शब्द रंग का भी पर्यायवाची है और इसके कारण यह अर्थ निकाला गया है कि यह बाहर से आये हुये श्वेत आर्य तथा देश के अन्दर रहने वाली काली जातियों की भिविन्नता का बोध कराने के लिए प्रयुक्त किया गया और इसलिए जो काले थे वह शुद्र हुए तााि शेष द्विज हुए। यह तो ठीक है कि 'वर्ण' शब्द रंग का बोधक है ओर इसलिए चारो वर्णों का श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण अर्थात काला वर्ण बताया गया है[8], परन्तु यह रंग इसलिए बताये गये है कि ये रंग इन वर्णों के विभिन्न गुणों के प्रतीक है। ब्राह्मण सतोगुणी है इस कारण उसका रंग श्वेत है। शूद्र तमोगुणी है उसका रंग कृष्ण है। यह बात सर्वविदित है कि श्वेत रंग सबसे श्रेष्ठ ओर कृष्ण रंग सबसे निकृष्ट है। रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय रक्तांग माना गया तथा रज ओर तम का मिश्रण होने के कारण वैश्य पीत वर्ण। वामनपुराण में चार प्रकार की देवियों का वर्णन है जिन्हें सरस्वती, जयश्री, लक्ष्मी और प्रियदेवी कामभावनायुक्त देवी) कहा गया है। इस प्रकार इन गुणों (सत्त्व, रज, तम) के आधार पर विभिन्न रंगों का स्वरूप माना गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि 'वर्ण' शब्द का प्रयोग पहले किस अर्थ में हुआ रंग के अर्थ में अथवा इन जातियों के अर्थ में। क्योंकि 'वर्ण' का धातु (मूल) अर्थ जो ऊपर बताया गया है, 'गुण' से संबन्धित है, अतः यही संभावना अधिक प्रतीत होती है कि पहले इस शब्द का प्रयोग इन चार जातियों के अर्थ में हुआ और फिर,

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

क्योंकि इन जातियों पर, इनके गुणानुसार कुछ रंग आरोपित थे, इस कारण बाद में इस शब्द का रंग के अर्थ में भी प्रयोग होने लगा। राधाकृष्णन का यह भी कहना है कि विभिन्न वर्णो के अन्दर रंग आरोपित करने का कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों की आत्माओं से उनके गुणानुसार भिन्न–भिन्न रंगों की आभाएं निकलती है जो कि सर्वसाधारण व्यक्ति को नहीं दिखायी देती। उसे वही देख सकते हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से उत्पन्न हों। विभिन्न आत्माओं से विभिन्न रंगों की आभाएं निकलने की धारणा जैनमत को मान्य है और शांन्तिपर्व में भी यह कहा गया है। अतः यदि वर्ण रंग का ही प्रतीक माना जाये तो वह इसी अर्थ में रंग का बोधक है[9]।

इस प्रकार श्रेष्ठ और निष्कृट गुणों के अनुसार व्यक्तियों और कार्यों का विभाजन किया गया और उस आधार पर वर्ण–व्यवस्था की निर्मिति हुई। अतः वर्ण, गुणों पर तो आधारित थे ही, 'कर्म' पर भी आधारित थे। 'गुण' और 'कर्म' दोनो दुअर्थी शब्द हैं। 'गुण' का अर्थ जहां एक ओर सत्त्व, रज और तमोगुण है वहां गुण का वह अर्थ भी है जिस अर्थ में साधारणतया हम 'गुण' शब्द प्रयोग करते है। सत्त्व, रज, तम भी जीवन के साधारण गुणों के द्योतक है। वनपर्व में धर्मव्याघ कौशिक ब्राह्मण को उपदेश देते हुए कहता है–''जिसमें अज्ञान की बहुलता है, जो मूढ़ और अचेतन तथा बहुत सोनेवाला है, जिसकी इन्द्रियां वश में न होने के कारण दूषित है, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्य को तमोगुणी जानना चाहिए। ब्रह्मर्षे ! जो प्रकुतिमार्ग की ही बातें करनेवाला, मन्त्रणा के कुशल और दूसरों से ईर्ष्या न करनेवाला, तिाि जो सदा कुछ–न–कुछ करने की इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता तथा अभिमान की अधिकता है, वह मनुष्यों पर रोब जमाने वाला पुरूष रजागुणी कहा गया है। जिसमें प्रकाश (ज्ञान) की बहुलता है, जो धीर और नये–नये कार्य आरम्भ करने की उत्सुकता से रहित है, जिसमें दूसरों के दोष देखने की प्रतृत्ति का अभाव है, जो क्रोधशून्य, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय है वह सतोगुणी है।'' मनुस्मृति में भी कहा है– ''वेदभ्यास, तप शौच, इन्द्रियसंयम, धर्मानुष्ठान और आत्मचिन्तन, ये सब सतोगुण के लक्षण हैं। ककर्म प्रारम्भ करने में अरूचि,

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

अधैर्य, असत्कार्य के प्रति प्रेम और विषयोपभोग, ये रजोगुण के लक्षण है। लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रुरता, नास्तिकता, आचार का लोप, याचना का स्वभाव और प्रमाद, ये तमोगुण के लक्षण है।'' अतः सतोंगुणी, राजोगुणी कहने का अर्थव्यक्ति के अन्दर कुछ गुणों को परिलक्षित करना है। वर्णों के अन्दर गुणों का दोनों प्रकार से समावेश बताया भी गया है। वामनपुराण के जिस उदाहरण का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसी उदाहरण के प्रारम्भ में विभिन्न वर्णों को सत्त्व, रज, जम गुणों से क्रमशः समन्वित कह कर तत्पश्चात् इन वर्णों के व्यक्तियों का वर्णन किया गया है– ''सत्य तथा पवित्रता से युक्त, दान, उत्सव में लगे हुए व्यक्ति, हे दानवपति ! महापद्या देवी (सरस्वती) के आश्रित होते रहते हैं तथा नास्तिक, शौचरहित (अपित्र), कृपण, भोग भी न कर सकने की पात्रतावाले, झुठ बोलनेवाले तथा चोरी करनेवाले मनुष्य, हे बाले ! शंखश्रित (प्रिय देवी के आश्रित) रहते है। महाभारत में भी कहा है कि ''तमोगुण शूर्दों में, रजोगुण क्षत्रियों में तथा सत्त्वगुण ब्राह्मणों में होता है। 'कर्म' शब्द का प्रयोग भी दो अर्थ में है। सर्वप्रथम तो 'कर्म' का अर्थ यह है कि कर्मफल पर अर्थात् पूर्वजन्म के कर्म पर व्यक्ति का वर्ण निर्भर रहता था। योगसूत्र में यह कहा ही है कि जाति, आयु और भोग कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं। महाभारत में भी धर्मव्याध तथा विदुर के उदाहरण हैं जिनके विषय में बताया गया है कि वे सद्गुणी होने पर भी पूर्वजन्मों के कर्म के कारण शूद्र हुए। अतः ऐसा हो सकता है कि कई बार गुणों में श्रेष्ठ होने पर भी व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म ले अथवा निकृष्ट गुणवाला व्यक्ति भी किसी पूर्व कर्म के पुण्यफल के कारण श्रेष्ठ वर्ण में जन्म ले। कर्मफल का सिद्धान्त मानने के कारण श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट जाति में जन्म, पुर्वजन्म के कर्मों के आधार पर मिलता है, यह मानना है, यह मानना स्वाभाविक था[10]। साधारणतया तो 'गुण' (सत, रज, तम) और 'कर्म' का समन्वय रहता था। व्यक्ति के जैसे कर्म होते थे तदनुसार ही उसके मन पर संस्कार निर्माण होकर उसके अन्दर वैसे ही गुण भी निर्माण होते थे, इसलिए यह धारणा भी कि 'कर्म' और 'गुण' दोनों के समन्वय से व्यक्ति किसी एक वर्ण की योग्यता प्राप्त करेगा। परन्तु कई बार अपवाद के रूप में बहुत श्रेष्ठ गुण के व्यक्ति को भी किसी दुष्कर्म के परिणाम स्वरूप निम्न वर्ण में जन्म लेना पड़ता है। 'कर्म' शब्द का दूसरा अर्थ है कि चारों वर्णों के कर्म

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

निश्चित थे। ब्राह्मणों का कर्म था यज्ञ करना और कराना, दान देना तथा लेना, अध्ययन करना और कराना; क्षत्रिय के कर्म थे यज्ञ और अध्ययन करना, दान देना तथा प्रजापालन; वैश्य के कर्मों में यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन, कृषि, वाणिज्य ओर पशुपालन था तथा शूद्र का कर्म था सेवा एवं कारीगरी। केवल कर्म ही निर्धारित नहीं थे परन्तु यही कर्म व्यक्ति करे और अन्य दूसरा कर्म ने करे, इस बात का भी आग्रह था (देखिए, आगे का विवेचन)। इन्हीं सब अर्थों में गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि ''चातुर्वष्य की सृष्टि मैनं गुण और कर्म के आधार पर की है[11] ।''

वर्ण–व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा है कि चारों वर्ण एक दूसरे से जन्म से ही श्रेष्ठ हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र का भी कहना है कि चारों वर्ण प्रकृति (कूल स्वभाव अथवा जन्म) और संस्कारों से जाने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण के पुरूष को अपनी ही सवर्णा स्त्री से विवाह करने का आदेश है और इसलिए स्वाभाविक रूप से एक समान वर्ण के स्त्री–पुरूष से उत्पन्न उसी वर्ण की मानी गयी है। विभिन्न वर्णों के स्त्री–पुरूष के योग से (अर्थात यदि पुरूष एक वर्ण से भिन्न स्थान दिया गया और ऐसी वर्णसंकर जातियों का वर्णन कई स्मृतियों में है। वर्णसंकरता की अर्थात विभिन्न वर्णों के स्त्री–पुरूषों के संयोग की सर्वत्र बहुत निन्दा भी की गयी है (देखिए नीचे) वर्ण को जन्म पर आधारित करना बहुत स्वाभाविक भी था। यदि वैसा न किया जाता। यदि जन्म पर वर्णों को आधारित न किया होता तो फिर वर्ण निर्धारित करने का अन्य कोई आधार रखना भी बहुत कठिन था। जन्म पर जाति निर्धारित करने का नियम मान कर भारतीय धर्म–व्यवस्थापकों ने जाति–निर्धारण का काम प्रकृति के ऊपर छोड़ दिया। ऐसा माना गया कि प्रकृति द्वारा वर्ण–निर्धारण अधिक प्राकृतिक और न्यायानुकूल होगा बजाय इसके कि मनुष्य द्वारा वर्ण–निर्धारण हो क्योंकि प्रकृति के सभी काम सुनिश्चित नियमों के आधार पर होते हैं। यह भी माना गया कि वर्ण के अन्दर जन्म साधारणतया योग्यता के अनुसार ही होगा। साधारणतया जो जिस वर्ण के योग्य होगा, वह उसी वर्ण में उत्पन्न होगा। जन्मना वर्ण–व्यवस्था मानने का एक यह भी कारण था कि यह

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 12
September 2017

एक स्वीकृत सिद्धान्त के रूप में माना गया है कि माता–पिता के गुण उनकी सन्तान मे भी आते हैं। मनुस्मृति में कहा है, ''पुर्वोक्त (पुत्र) पिता का अथवा माता का अथवा दोनों का स्वभाव प्राप्त करता है। दुष्ट योनि द्वारा उत्पन्न सन्तति कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छिपा सकती।'' वायुपुराण में कहा है ''पुत्र सदा पिता के समान होता है।'' इस कारण यह विचार था कि एक वर्ण के स्त्री–पुरूष में उत्पन्न सन्तान साधारणतया उन्हीं के गुणानुसार होगी और इस कारण उसी वर्ण की पात्रता उस सन्तान के अन्दर होगी[12]।

1 मुखर्जी आर0के0 साईस ऑफ सोशल, ऑर्गेनिजेशन, पृ. 167.
2 शतपथ ब्राह्मण, 5, 1, 1, 1, 2.
3 वही.
4 मुखर्जी आर0के0 इण्डियन स्कीम ऑफ लाइफ, पृ. 42.
5 वही, पृ. 37.
6 एस. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसोफी, भाग–1, पृ. 320.
7 शान्तिपर्व, 280, 33, 63.
8 वही.
9 वही.
10 महाभारत, 14, 39, 10.
11 एस. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसोफी, भाग–1, पृ. 31.
12 मनु स्मृति, 1, 88, 61.